

परंपरा, संस्थापन कला आदि के बारे में भी जानने का अवसर मिलता है. भेंटवार्ता के माध्यम से कलाकार के मन को समझना और उसकी कला के बुनियादी तत्वों को पकड़ना-पहचानना काफी हद तक आसान हो जाता है. आज़ादी के समय से अभी तक स्वातंत्र्योत्तर समय में लगातार महत्वपूर्ण रहे कलाकारों से भारद्वाज की भेंटवार्ताएं काफी जानकारीपरक और उपयोगी हैं.

हिम्मत शाह, ए. रामचंद्रन, कृष्ण रेड्डी और विवान सुंदरम जैसे कलाकारों पर आलेख हैं तो एक लंबा लेख ऐसा भी है जो पश्चिम में आधुनिक कला के सौ सालों में एक के बाद एक आए-गए वादों का एक परिचयात्मक, ऐतिहासिक आकलन भी है. पिकासो, हेनरी मूर, फ्रांसिस बेकन, और वान गॉग सरीखे पश्चिमी कलाकारों पर भी संक्षिप्त लेकिन सारगर्भित रचनाएं दी गई हैं.

पुस्तक में कुछ महत्वपूर्ण चिंताएं भी दर्ज की गई हैं जैसे, बड़ौदा की घटती जा रही विशिष्टता, कला का बढ़ता व्यापार, सफल होने के बाद कला प्रशिक्षण को अपना कीमती समय देने से कलाकारों परहेज आदि. ■



**उदारीकरण का सच**  
**अमित भादुड़ी**  
**दीपक नय्यर**  
राजकमल प्रकाशन  
नई दिल्ली  
कीमत: 150 रु.

### ■ अर्थनीति

## बहस का सच

उदारीकरण के पहलुओं की जांच

ललित शर्मा

**भ**ारत में उदारीकरण पर पिछले छह सालों से जो बहस चल रही है वह कभी तो राजनैतिक नारेबाजी तक सीमित रह जाती है और कभी विद्वानों की नुक्ताचीनी तक. आम आदमी को, जो न तो विशेषज्ञ है और न अनपढ़, या तो बहस समझ आती ही नहीं और अगर आती है तो राजनैतिक पार्टियों के समर्थन या विरोध के रंगों में. जहां इतने विद्वान बहसे में लगे हैं, आशा तो यह रखनी चाहिए कि देश की आर्थिक नीतियों पर सहमति हो जाएगी. यदि सहमति नहीं होती तो आशंका उठती है कि बहस के आचरण में कोई त्रुटि है.

इस मैच पर अमित भादुड़ी और दीपक नय्यर ने एक रनिंग कमेंटरी पेश की है. पहले

यह किताब अंग्रेजी में छपी थी और अब इसका हिंदी अनुवाद पाठकों के सामने है. भादुड़ी आर्थिक नीति के विशेषज्ञ और सरकारी नीति के अच्छे आलोचक हैं. साथ-साथ खुद भी सरकारी नीति बनाने के मैदान में उतर चुके हैं. वे आज की टीम में सम्मिलित नहीं हैं, फिर भी किसी भविष्य की टीम में फिर से खिलाड़ी या कप्तान के रूप में आ सकते हैं.

भादुड़ी और नय्यर के अनुसार, उदारीकरण की जो बहस चल रही है वह

“बहरों की बहस” है जिसमें दक्षिणपंथी और वामपंथी योद्धा एक दूसरे की बात सुनने या समझने में रुचि नहीं रखते. रुचि है तो या तो अपनी-अपनी विचारधाराओं के ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ में या राजनैतिक घमासान में. इन हालात में भादुड़ी और नय्यर ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है. उनके अनुसार, “यह पुस्तक न तो उत्साही उदारवादियों के पक्ष में है, और न कठमुल्ले विरोधियों के पक्ष में. हम इन दोनों में किसी से सहमत नहीं हैं. कारण सीधा-सा है कि हम आर्थिक-सामाजिक नीतियों को बार-बार किया जाने वाला प्रयोग मानते हैं.”

इस बहस को समझने में कम-से-कम दो बड़ी भारी मुश्किलें सामने आती हैं. पहली मुश्किल तो यह है कि आर्थिक बहस सामाजिक और राजनैतिक बहस में गड़ी हुई होती है. इन सामाजिक या राजनैतिक बिंदुओं में आर्थिक विशेषज्ञ, आर्थिक विशेषज्ञ होने के नाते, कुछ नहीं बता सकते. लेकिन आर्थिक नीतियों के फल इन सामाजिक और राजनैतिक मसलों पर गंभीर असर रखते हैं. इसलिए जो बहस बंद कमरों में बौद्धिक तौर से होनी चाहिए वह कई बार खुली सड़क पर चिल्लाकर भी होती है.

दूसरी बड़ी भारी समस्या परिभाषाओं की है. भूमंडलीकरण शब्द को लीजिए. भारत की अर्थव्यवस्था का भूमंडलीकरण होने का क्या मतलब है यह इस बहस के लिए जानना जरूरी है कि भूमंडलीकरण अच्छी चीज़ है या बुरी. भारत की अर्थव्यवस्था आयात और निर्यात दोनों पर निर्भर है. खनिज तेल, तकनीकी, और नॉन-फैरस (गैर-लौहिक) धातुओं का नियमित रूप से और खाद्य पदार्थों का कभी-कभी जरूरी आयात करना पड़ता है. इस आयात के लिए निर्यात करना पड़ता है. यदि इस नज़र से देखा जाए तो भारतीय अर्थव्यवस्था का भूमंडलीकरण कभी का हो चुका है, और इस मामले पर जो

### पुस्तक अंश

**“यह पुस्तक न तो उत्साही उदारवादियों के पक्ष में है, और न कठमुल्ले विरोधियों के पक्ष में. हम इन दोनों में किसी से सहमत नहीं हैं. हम आर्थिक-सामाजिक नीतियों को बार-बार किया जाने वाला प्रयोग मानते हैं.”**

बहस है वह झूठ-मूठ का नाटक है. यदि भूमंडलीकरण शब्द का अर्थ कुछ और समझना चाहिए तो विवादकर्ताओं को उसका मतलब स्पष्ट करना चाहिए.

असल में तो उदारीकरण का भी अर्थ स्पष्ट नहीं है. कहा जाता है कि आर्थिक व्यवस्था खुली होनी चाहिए और इस नीति को अपनाने को उदारीकरण करार दिया जाता है. उदारीकरण के कट्टर विरोधी भी भारत की अंदरूनी अर्थव्यवस्था में पूंजी, श्रम और वस्तुओं

का खुला आना-जाना अच्छा मानेंगे. लेकिन अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उदारीकरण के कट्टर समर्थक (विशेषकर विकसित देशों में) भी पूंजी और वस्तुओं का आना-जाना ही उचित मानेंगे, और श्रम का आना-जाना नहीं. पक्ष और विपक्ष दोनों का दायित्व है कि इस मामले पर स्पष्टीकरण दें.

यह किताब इसलिए भी पढ़ने लायक है कि आर्थिक व्यवस्था की बहस के महत्वपूर्ण विषयों—जैसे कि बाज़ारवाद, पूर्ण नियंत्रण वाली व्यवस्था, भुगतान संतुलन, वृहद सुधारीकरण, वित्तीय समायोजन और संचालनात्मक सुधार, सार्वजनिक क्षेत्र सुधार, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की भूमिका इत्यादि पर रोशनी डालती है. दोनों लेखकों का समाजवाद की ओर झुकाव है. इस प्रकार की कमेंटरी का तर्कसंगत होना ही प्रशंसनीय हो सकता है चाहे लेखकों का झुकाव किसी भी प्रणाली की तरफ हो. अनुवाद में कुछ त्रुटियां हैं.

यदि पाठक जानना चाहें कि 1990 का संकट क्या था, क्यों था और पुस्तक का निष्कर्ष क्या है तो यह सरल तरीके से कहा जा सकता है: पैसे की बचत और उत्पादन में इसका निवेश हमेशा आने वाली पीढ़ी के लिए किया जाता है. इसलिए खर्चा आमदनी से कम रखना चाहिए. अगर कर्ज लेना पड़े तो कर्ज ऐसे उत्पादन में लगाना चाहिए कि उससे आमदनी मूल और ब्याज चुकाने लायक से अधिक हो. कर्ज लेकर गुलछरें नहीं उड़ाए जाते. यह सच, जो हर गृहिणी जानती है, भारत सरकार और वित्त मंत्रालय के सामंत और मुनीम 1980 के दशक में भूल गए थे. 1991 के संकट ने याददाश्त को पुरजोर ठोकर लगाई. खतरा यह है कि 1997 में याददाश्त फिर कमजोर हो रही है. यह किताब स्पष्ट कर देती है कि भीख-चाहे वह अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से ही क्यों न हो—कभी भी इज्जत से नहीं मांगी जाती. ■